"सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान - सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी"

जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मलेन २००९ में बाबा श्री नागराज शर्मा का उद्बोधन (३ अक्टूबर २००९)

मेरे बंधुओं!

अपने बंधुओं के बीच मैं स्वयं को पा करके सुख का अनुभव कर रहा हूँ। जो कुछ भी मैं आगे कहूँगा - वह मेरे सुख का अभिव्यक्ति है। आज यहाँ मुझे "सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान - सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी" - इस मुद्दे पर अपने अनुभव को प्रस्तुत करने को कहा गया है।

सह-अस्तित्व में हम सब हैं। सब कुछ - अणु, परमाणु, तृण, काष्ठ - सभी का सभी सह-अस्तित्व में है। इसको मैंने देखा है, समझा है, जिया है। इन तीनो भागों में किसी को भी शंका हो तो उसको आप मुझसे पूछ सकते हैं, समझ सकते हैं।

"सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान है" - इसको मैंने देखा। अस्तित्व में एक व्यापक-वस्तु है। व्यापक-वस्तु को जड़-प्रकृति के लिए साम्य-ऊर्जा स्वरूप में मैं समझा। व्यापक वस्तु को ही मानव में मैं "ज्ञान" स्वरूप में समझा। साम्य-ऊर्जा सभी भौतिक-रासायनिक वस्तुओं को प्राप्त है। इसका प्रमाण है - सभी भौतिक-रासायनिक वस्तुएं क्रियाशील हैं। साम्य-ऊर्जा में भीगे रहने, संपृक्त रहने के आधार पर हर वस्तु ऊर्जा संपन्न है। उसके बाद जीव-संसार में यह ऊर्जा "जीने की आशा" के स्वरूप में प्राप्त है। उसके बाद मनुष्य में यह ऊर्जा "कल्पनाशीलता" के स्वरूप में प्राप्त है।

मनुष्य में कल्पनाशील होने के आधार पर "ज्ञानशील" होने का व्यवस्था बना हुआ है। हर मनुष्य में कल्पनाशीलता और कर्म-स्वतंत्रता वर्तमान है। कल्पनाशीलता के प्रयोग से ही हम "तदाकार-तद्रूप विधि" से ज्ञान-संपन्न होते हैं। ज्ञान-संपन्न होने का विधि यही है। आज तक जितने भी व्यक्ति ज्ञान-संपन्न हुए हैं, इसी विधि से हुए हैं। आगे ज्ञान-संपन्न होंगे तो भी इसी विधि से होंगे। ज्ञान-संपन्न होने का अवसर इसी तदाकार-तद्रूप विधि से है।

"ज्ञान-सम्पन्नता सह-अस्तित्व में ही होता है।" यह बात भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों विधियों से प्रगट नहीं हो पाया। उसी आधार पर इस प्रस्ताव को "विकल्प" कहा है। इस प्रस्ताव को "विकल्प" कहने का प्रयोजन इतना ही है, और कुछ नहीं है।

"सह-अस्तित्व ज्ञान मूल है" - यह बात आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों नहीं पकड़ा। जिसके प्रमाण में आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों द्वारा "मानव का अध्ययन" नहीं हुआ। मानव द्वारा "मानव का अध्ययन" न हो पाने की वजह से मानव द्वारा अपने मनोगत विधि से ही जीना बना। अभी एक ही मनुष्य एक ही दिन में अनेक स्वरूपों में जीता है। मनुष्य एक स्वरूप में सवेरे से शाम तक जी नहीं पाता है। इसको हम देख सकते हैं, समझ सकते हैं, अध्ययन कर सकते हैं। सह-अस्तित्व ज्ञान सम्पन्नता पूर्वक ही मनुष्य "एक निश्चित स्वरूप" में जी पाता है।

हर बच्चे में, हर बूढे में कल्पनाशीलता-कर्म-स्वतंत्रता "स्वत्व" के रूप में रखा है। मनुष्य ने कल्पनाशीलता के आधार पर कर्म-स्वतंत्रता का प्रयोग किया है। मनुष्य को अभी तक कल्पनाशीलता का तृप्ति-बिन्दु प्राप्त नहीं हुआ, अध्ययन-गम्य नहीं हुआ, व्यवहार-गम्य नहीं हुआ, व्यवस्था-गम्य नहीं हुआ। इसी विसंगति के कारण एक ही व्यक्ति का एक दिन में अनेक स्वरूपों में जीना होता है। सह-अस्तित्व ज्ञान होने पर मनुष्य का "एक निश्चित स्वरूप" में जीना होता है।

अभी तक के इतिहास में मानव-परम्परा ने हमें क्या दिया फ़िर? इस प्रश्न का उत्तर है - अभी तक के मानव-इतिहास में विगत परम्परा ने हमें "भाषा" दिया और विज्ञानं ने हमे "तकनीकी" दिया। तकनीकी भी प्रचलित-विज्ञानं से कम मात्रा में आयी है, विगत परम्परा से ज्यादा मात्रा में आयी है। इस बात को हम ऐसे समझ सकते हैं - आहार, आवास, अलंकार संबन्धी वस्तुएं विगत-परम्परा से आयी हैं। दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, और दूर-गमन संबन्धी वस्तुएं प्रचलित-विज्ञानं से आयी हैं। विज्ञानं-विधा में एक तो सामान्य विधि से तकनीकी विकसित हुई, दूसरे - समाज की अपेक्षा के अनुसार तकनीकी विकसित हुई। तकनीकी जो विज्ञानं द्वारा विकसित हुई - प्रौद्योगिकी विधि से सर्व-सुलभ हो गयी - यह बात हमको समझ में आयी।

सह-अस्तित्व को मैंने "नित्य प्रभावी" स्वरूप में देखा। "नित्य प्रभावी" का मतलब है - नित्य प्रगटन-शील! सह-अस्तित्व नित्य प्रगट होता ही रहता है। सह-अस्तित्व कब तक प्रगट होता है? इसका उत्तर है - जब तक सह-अस्तित्व अपने प्रतिरूप को प्रगट न कर दे! सह-अस्तित्व का प्रतिरूप होने का मतलब है - अस्तित्व में प्रमाणित हो जाना। सह-अस्तित्व प्रगटन-शील होने का

प्रयोजन है - सह-अस्तित्व प्रमाणित हो जाए। इतनी ही बात है। मूल सिद्धांत इतना ही है। इस आधार पर सह-अस्तित्व के नित्य प्रगटन-शील होने का प्रयोजन मुझको समझ में आया। मनुष्य जागृत होने पर सह-अस्तित्व का प्रतिरूप है। सह-अस्तित्व ज्ञान को जी कर प्रमाणित करने वाला केवल मानव ही है।

सह-अस्तित्व ज्ञान में ही "जीवन-ज्ञान" समाहित है। जीवन एक गठन-पूर्ण परमाणु है। जीवन में दस क्रियाएं होती हैं। जिनमें से मानव भ्रम-वश ४.५ क्रिया में जीता है। शेष ५.५ क्रियाएं सुप्त रहते हैं। उन ५.५ क्रियाओं को व्यक्त करना ही "जागृति" है। ४.५ क्रिया में जीना ही "भ्रम" है। ऐसा मुझको समझ में आया।

भ्रम-वश मनुष्य व्यक्तिवाद और समुदायवाद में जीता है - व्यक्तिवाद "भोग" के लिए - और समुदाय-वाद "झगडा" (संघर्ष) करने के लिए! झगडे का कोई अंत नहीं होता। झगडे के लिए सामरिक-तंत्र को बुलंद बनाते-बनाते यह धरती बीमार हो गयी। धरती बीमार होने के बाद आदमी कहाँ रहेगा? कहाँ युद्ध करेगा? कहाँ संघर्ष करेगा? क्या कर लेगा?

अभी जैसे आपके स्कूल में भी जो संघर्ष (competition) करके जीत के आते हैं, उनको आप select करते हैं। इस तरह selection की विधि मानव को विभाजित किया। जो ज्यादा संघर्ष किया उसको हमने इसलिए select किया क्योंकि वह और ज्यादा संघर्ष कर सकता है, युद्ध कर सकता है, पैसा पैदा कर सकता है। "पैसा पैदा करने" के मूल में जाने पर पता चलता है - अपराध किए बिना या अपराध के लिए सहमति दिए बिना पैसा पैदा किया नहीं जा सकता।

अब क्या किया जाए? इसका उत्तर है - समाधान-समृद्धि पूर्वक जिया जाए। समाधान-समृद्धि पूर्वक जीने से सुविधा-संग्रह की प्रवृत्तियां विलय हो जाती हैं। इसको मैंने जी कर देखा है। मेरे पास संग्रह नहीं है - लेकिन मैं समृद्ध हूँ। मैं समृद्धि पूर्वक जीता हूँ, अपने बल-बूते पर मैं कहीं भी जाता हूँ, अपना काम पूरा करता हूँ। मेरी सारी समृद्धि की वस्तुएं शरीर-पोषण, संरक्षण, और समाज-गति के लिए हैं। समृद्धि के लिए वस्तुओं का उत्पादन आवश्यक है। ये वस्तुएं सामान्याकंक्षा (आहार, आवास, अलंकार) और महत्त्वाकांक्षा (दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, और दूर-गमन) संबन्धी होती हैं। इसमें से आहार, आवास, अलंकार संबन्धी वस्तुएं शरीर-पोषण और संरक्षण के अर्थ में हैं। समाज-गति के लिए दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, और दूर-गमन संबन्धी वस्तुओं का उपयोग किया जा सकता है। आहार, आवास, अलंकार संबन्धी वस्तुओं के उत्पादन करने में मैंने परिश्रम किया हुआ है। दूर-

श्रवण, दूर-गमन, दूर-दर्शन संबन्धी वस्तुओं के उत्पादन को लेकर परिश्रम करने के लिए आप आगे परीक्षण कर सकते हैं।

सह-अस्तित्व में जीना = समुदाय-चेतना से छूट कर मानव-चेतना में परिवर्तित हो कर जीना। इसे "गुणात्मक परिवर्तन" कहा। यह गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है तो हम भ्रम-वश समुदाय-चेतना में ही रह जायेंगे, व्यक्तिवादी चेतना में ही रह जायेंगे।

व्यक्तिवादी चेतना का हसरत है - "भोग"!
समुदायवादी चेतना का हसरत है - "झगडा" या संघर्ष!

आज तक की व्यक्तिवादी/समुदायवादी चेतना का हसरत इतना ही है। हर समुदाय का हर व्यक्ति इस पर शोध करने के बाद, इसका मूल्यांकन करने के बाद, निर्णय लेने के बाद - यदि ऐसा ही पाता है तो सह-अस्तित्व स्वरूप में समाधान-समृद्धि पूर्वक जी कर उपकार करने की व्यवस्था बनी हुई है।

समाधान-समृद्धि पूर्वक जिए बिना मनुष्य उपकार करने वाला नहीं बन पायेगा। किसी के पास रोटी नहीं है, उसे रोटी दे दिया तो "उपकार" नहीं हो गया। रोटी दे देने से उसका पेट सदा के लिए तो भरता नहीं है। पुनः भूख लगता ही है। किसी के पास रोटी नहीं है, उसे नौकरी दे दिया तो भी "उपकार" नहीं हुआ। नौकरी से उसको हज़ार रोटी का पैसा दिया - जबकि उसको चाहिए थी तीन ही रोटी! उस पैसे से "भूख" तो नहीं मिटा। नौकरी से "सुविधा-संग्रह" का चक्कर शुरू हुआ। "सुविधा-संग्रह" का तृप्ति-बिन्दु मिलता नहीं है।

"सुविधा-संग्रह" से पहले लोग "भक्ति-विरक्ति" लक्ष्य पूर्वक जीने के पीछे भी गए। हमारे शास्त्रों में भक्ति-विरक्ति पूर्वक "साधना" करने की बात कही गयी है। ऐसे साधना करने वाले साधकों का संसार ने खूब सम्मान किया, पूजा किया, खाना खिलाया - सब कुछ किया। यह सब करने के बावजूद साधना से संसार को जो फल मिलना चाहिए था, वह मिला नहीं। **साधना से संसार को जो फल मिलना चाहिए था, वह मिला नहीं!** पुनः एक बार कहता हूँ - साधक संसार में हजारों हुए, लाखों हुए - पर उनकी साधना का फल संसार को मिला नहीं। इस बात पर अच्छे से शोध करना चाहिए - और शोध करके निर्णय लेना चाहिए। मैंने कह दिया और आप मान लें! - ऐसा मेरा मत नहीं है। मेरा मत है - मैंने जो अनुभव किया है उसको प्रस्तुत करना मेरा काम है। उसके बाद उसको शोध करना की उसकी उपयोगिता कितना है, प्रयोजन कितना है, कितना हमको करना है - यह हर व्यक्ति का

काम है।

मानव-जाति ने सह-अस्तित्व में जीने से मुकर कर जीव-चेतना में जीकर सकल अपराधों को वैध माना। जिसके फलस्वरूप ही यह धरती बीमार हुई। धरती बीमार होने के बाद आदमी कहाँ रहेगा? इस स्थिति से निकलने के लिए आदमी का भ्रम-मुक्त और अपराध-मुक्त होना आवश्यक है।

भ्रम-मुक्त और अपराध-मुक्त होने की विधि क्या हो?

सह-अस्तित्व को भले प्रकार से अध्ययन किया जाए। सह-अस्तित्व में जीवन का अध्ययन किया जाए। सह-अस्तित्व में मानवीयता पूर्ण आचरण का भले प्रकार से अध्ययन किया जाए। मानवीयता पूर्ण आचरण के आधार पर हम "मानवीय आचार संहिता स्वरूपी संविधान" को पा सकते हैं। उसको मैं पूरा लिख चुका हूँ। उसको आप इच्छा हो तो देख सकते हैं।

मुझको समाधान पूर्वक सुख का अनुभव होता है - इसका मतलब मैं सत्य को समझा हूँ। इस प्रकार मैंने संसार को सत्य का प्रबोधन करना शुरू किया। इस पर कुछ लोग मुझे कहे - "तुम बहुत आशा-वादी हो!" इसके प्रतिवाद में मैंने उनसे पूछा - "आपने निराशावादी हो कर कौनसा पहाड़ तोड़ लिया?" इसका उनसे कोई उत्तर देना बना नहीं। अपने "आशावाद" के आधार पर जो प्रयत्न करना था - उसमें मैं लगा। इस प्रकार मेरे मार्ग में कई प्रकार के अवरोध, निंदा, स्तुति ये सब आते गए। मुझे न निंदा से मतलब है, न स्तुति से मतलब है। समझने से मतलब है, समझाने से मतलब है।

समझने-समझाने का मूल मुद्दा मैंने आपके सामने रखा। **सह-अस्तित्व ज्ञान संपन्न हो कर सह-अस्तित्व में जीना ही हमारा लक्ष्य है।** सह-अस्तित्व में पदार्थ-अवस्था, प्राण-अवस्था, जीव-अवस्था, और ज्ञान-अवस्था का इस धरती पर प्रगटन हुआ। ज्ञान-अवस्था में मानव ही है। **सर्व-मानव ज्ञान-अवस्था में गण्य हैं।** सर्व-मानव! कोई समुदाय-विशेष ही ज्ञान-अवस्था में हो - ऐसा नहीं है।

अनुसंधान पूर्वक जो पहचानना हुआ - उसको "शिक्षा विधि" से प्रस्तुत करने की कोशिश की। शिक्षा-विधि से प्रस्तुत करने के लिए एक "दर्शन" की आवश्यकता थी। जिसको "मध्यस्थ-दर्शन" नाम दिया। मध्यस्थ-दर्शन को विचार के स्तर पर "सह-अस्तित्व-वाद" कहा। सह-अस्तित्व-वाद के मूल में चिंतन को "अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन" कहा। इस ढंग से पूरी बात को प्रस्तुत किया है। यदि इच्छा हो तो आप इस प्रस्ताव को शैक्षणिक विधि से समझ सकते हैं। पूरा समझ कर

- जीने दे कर जी सकते हैं।

पहले सूचना, फ़िर पठन, फ़िर अध्ययन, फ़िर जीने दे कर जी कर प्रमाणित करना - यही चरण हैं। "जीने दे कर जीना" - मानव, देव-मानव, दिव्य-मानव स्वरूप में जीना है। दिव्य-मानव स्वरूप में जीने से हम सर्वाधिक उपकारी होते हैं। समझे हुए को समझाना, सीखे हुए को सिखाना, करे हुए को कराना - उपकार है। समझना क्या है - सह-अस्तित्व को समझना है। फ़िर सह-अस्तित्व में जीने देना है और जीना है। किसे जीने देना है? - पदार्थ-अवस्था, प्राण-अवस्था, जीव-अवस्था, और ज्ञान-अवस्था को जीने देना है। अपने से पिछली अवस्थाओं को जीने दिए बिना हमारा जीना नहीं बनेगा। इस बात को मैंने अच्छी तरह से अनुभव किया है। इससे कम में आदमी का उपकार करना बनता नहीं है। इससे ज्यादा उपकार करना भी बनता नहीं है।

<u>संबंधों की पहचान</u>

सह-अस्तित्व में जीते समय संबंधों को पहचानने की बात होती है। मानव का मानव के साथ सम्बन्ध, और मानव का मानवेत्तर प्रकृति के साथ सम्बन्ध - इन दो तरह से संबंधों को पहचाना। मानवेत्तर प्रकृति के साथ सम्बन्ध को "उपयोगिता" और "कला" (सुन्दरता) मूल्य के आधार पर पहचानते हैं। मानव-मानव सम्बन्ध को जीवन-मूल्य (सुख, शान्ति, संतोष, आनंद) के आधार पर, मानव-मूल्य (धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा) के आधार पर, स्थापित मूल्य (कृतज्ञता, गौरव, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, सम्मान, स्नेह, ममता, वात्सल्य) के आधार पर पहचानते हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हम सात मानव-संबंधों से पहचानते हैं। सातों संबंधों को इस प्रकार पहचान कर हम "समाज की रचना" को पहचानते हैं। इस पहचान के लिए यदि हम सटीक स्वरूप में अध्ययन करते हैं तो हम भागीदारी कर सकते हैं।

संबंधों को पहचानने का प्रयोजन है - सह-अस्तित्व में जीना। सह-अस्तित्व में जीने का अर्थ है - "जीने देना, जीना"। यह आवश्यक है या नहीं - आप सोचिये। हर व्यक्ति इस पर सोच सकता है, शोध कर सकता है। "जीने देना, जीना" विधि से हम अपराध-मुक्त हो सकते हैं - इस बात को मैंने अनुभव किया। यदि "जीने देना, जीना" में हस्तक्षेप करते हैं तो हिंसा के अलावा और कुछ होता नहीं है।

"सम्बन्ध" का परिभाषा दिया - पूर्णता के अर्थ में प्रतिज्ञा। पूर्णता के अर्थ में निर्वाह करने का नाम है - सम्बन्ध! पूर्णता क्या है - "क्रिया-पूर्णता" और "आचरण-पूर्णता"। इन दो पूर्णताओं की बात

कही। इसके पहले गठन-पूर्णता पहले से जीवन में है ही। गठन-पूर्णता के आधार पर ही जीवन "अमर" है। जीवन-परमाणु में से कोई प्रस्थापन-विस्थापन होता नहीं है। परमाणु गठन-पूर्ण होने पर "जीवन-पद" में संक्रमित होता है। जीवन पद में संक्रमित होने पर - मध्य में एक क्रिया, प्रथम परिवेश में २ क्रिया, द्वितीय परिवेश में ८ क्रिया, तृतीय परिवेश में १८ क्रिया, और चतुर्थ परिवेश में ३२ क्रियाएं होती हैं। इसको अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। इसको जो समझना चाहें - वे अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

क्रिया-पूर्णता होने पर मनुष्य का सह-अस्तित्व में जीना बनता है। जीने देकर जीना बनता है। इस तरह मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ नियम, नियंत्रण, संतुलन पूर्वक जीना बनता है। मानव के साथ न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना बनता है। इन ६ आयामों में जीने से हम "सामाजिक" हो पाते हैं। इससे कम में कोई सामाजिक होता ही नहीं है।

इस प्रकार हम "सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी, और सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान" के बारे में स्पष्ट होते हैं। इस स्पष्टता के अभाव में व्यक्तिवाद, समुदायवाद ही रहेगा। व्यक्तिवाद और समुदायवाद भोग के लिए, संघर्ष के लिए, और युद्ध के लिए ही है। इससे ज्यादा इनसे कुछ होता नहीं है। संघर्ष के साथ शोषण निश्चित है। आज जैसे एक देश दूसरे देश का शोषण करने का सोचता है, एक परिवार दूसरे परिवार का शोषण करने का सोचता है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करने का सोचता है - वह सब इस समझ से हर व्यक्ति में समाप्त हो जाता है। इस समझ के साथ "समाधान-समृद्धि" पूर्वक जीना बन जाता है।

समझदारी से समाधान मिलता है।
श्रम से समृद्धि मिलता है।

समाधान-समृद्धि पूर्वक जीने के क्रम में हम व्यवस्था में जी पाते हैं।

सह-अस्तित्व में ही हम "अखंडता" और "सार्वभौमता" को अनुभव करते हैं।

अखंडता को अनुभव करने का मतलब है - "सर्व-मानव एक ही जाति है, सर्व-मानव एक ही धर्मी है" - इसको अनुभव करना।

जीवन में धर्म का व्यवस्था है। शरीर में रचना का व्यवस्था है।

जीवन के आधार पर "धर्म" की पहचान है। सर्व-मानव का एक ही धर्म है। मानव धर्म सुख है। सुख की चाहत से मनुष्य को अलग नहीं किया जा सकता। जीवन में जागृति पूर्वक सुख होता है।

शरीर-रचना के आधार पर "जाति" की पहचान है। सर्व-मानव एक ही जाति है। सभी मानवों में - चाहे वे गोरे हों, काले हों, भूरे हों - सभी में शरीर-रचना की वस्तुएं एक ही हैं। खून की प्रजातियाँ एक ही हैं। हड्डियों की रचना एक ही है। मांस-पेशियों की रचना एक सी हैं। रसों की व्यवस्था एक सी है। इन सब आधारों पर हम मानव को "एक जाति" के रूप में पहचान सकते हैं।

मानव के आहार, विहार, और व्यवहार को सुसंगत स्वरूप को इस तरह पहचाना जा सकता है, फ़िर जिया जा सकता है। इससे पहले आदर्शवाद और भौतिकवाद द्वारा मानव का अध्ययन नहीं हो पाया था। मानव का अध्ययन न हो पाने के कारण मानव मनमानी विधि से जीता रहा। मनमानी विधि से जीते हुए अपने संरक्षण के लिए समुदाय-रचना आवश्यक हो गयी। इस ढंग से हम फंस गए। सभी अपराधों को "विधि" मान लिए। अंततोगत्वा धरती बीमार होने पर हम पुनर्विचार के लिए बाध्य हो गए हैं।

"सार्वभौमता" से आशय है - चारों अवस्थाओं में संतुलन।

पदार्थ-अवस्था, प्राण-अवस्था, जीव-अवस्था, और ज्ञान-अवस्था में यदि निरंतर संतुलन बना रहता है - तो वह "सार्वभौमता" है। यदि इनमें संतुलन बना नहीं रहता है तो वह व्यवस्था नहीं है। यह आपको स्वीकार होता है या नहीं - मैं नहीं कह सकता। यह समझ में आता है तो यह मनुष्य को स्वीकार होता है - संतुलन के लिए मनुष्य को नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक ही जीना पड़ेगा। मनुष्येत्तर प्रकृति का "त्व सहित व्यवस्था" का स्वरूप जो बना हुआ है, वह मनुष्य ने नहीं बनाया है, वह सह-अस्तित्व स्वयं प्रगटन-शील होने की विधि से बना हुआ है। मानव के नियम-नियंत्रण-संतुलन विधि से जीने से मनुष्येत्तर प्रकृति संतुलित रहता है। मानव के न्याय-धर्म-सत्य पूर्वक जीने से मानव-प्रकृति संतुलित रहता है। ऐसी सार्वभौमता की आवश्यकता है या नहीं - इसको हमें देखना होगा। इसके बाद इस प्रस्ताव के अध्ययन/शोध पूर्वक हम "उपकार" करने की स्थिति में आ जाते हैं।

मानव के सह-अस्तित्व में जीने के लिए "मानसिकता" में परिवर्तन एक मात्र आशा है। सह-अस्तित्व में जीना केवल "कार्य" में परिवर्तन-पूर्वक नहीं है। कोई यंत्र सह-अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करेगा। सह-अस्तित्व को मनुष्य ही जागृति पूर्वक प्रमाणित कर सकता है।

सह-अस्तित्व में जीना नितांत आवश्यक है। सह-अस्तित्व में जीने के लिए पूरा समझना आवश्यक है। पूरा समझने की वस्तु सह-अस्तित्व ही है। सह-अस्तित्व में ही जीवन है। सह-अस्तित्व में ही मानवीयता पूर्ण आचरण है। सह-अस्तित्व में ही विवेक है। सह-अस्तित्व में ही विज्ञान है। सह-अस्तित्व को छोड़ कर हम कुछ भी सोच नहीं सकते।

यह सब मुझसे सुनने के बाद आपको जो कोई भी शंका हो, उसको आप मुझसे पूछ सकते हैं।

प्रश्न: मानव "सह-अस्तित्व का प्रतिरूप" हो जाए - इसका क्या अर्थ है?

उत्तर: "सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान है" - यह ज्ञान होने पर मानव सह-अस्तित्व में जी सकता है। वही "सह-अस्तित्व का प्रतिरूप" का अर्थ है। सह-अस्तित्व ज्ञान से संपन्न होने का "अधिकार" मानव को है। मानव जब उस अधिकार का प्रयोग करता है, सह-अस्तित्व की प्रगटन-शीलता को समझता है, तो उसके प्रमाण में सह-अस्तित्व में जीता है।

प्रश्न: "गरीबी-अमीरी में संतुलन" से क्या अर्थ है?

उत्तर: गरीबी-अमीरी में संतुलन समाधान-समृद्धि पूर्वक जीने वाली परिवार-मूलक विधि से होता है। समझदारी से समाधान होता है। श्रम से समृद्धि होती है।

प्रश्न: अध्ययन के साथ "अनुकरण" की क्या भूमिका है?

उत्तर: प्रौढ़ व्यक्तियों को अनुकरण करने को कम कहा है। बच्चों के लिए ज्यादा कहा है। एक आयु के बाद व्यक्ति अपने को समझा हुआ मान लेता है। ऐसे व्यक्ति को समझाने के लिए यह मान कर चलते हैं - "थोड़ा समझाने के बाद वे विचार पूर्वक समझ जायेंगे"। उनका "सम्मान" यही है। यही "गंभीरता" भी है। "न्याय" भी यहाँ यही है।

बच्चों में अपने अभिभावकों का अनुकरण की बात सर्वाधिक है। भाषा का अनुकरण बच्चे करते ही हैं। कार्य, व्यवहार, और रहन-सहन का अनुकरण बच्चे करते ही हैं। अभी की स्थिति में "समझदारी" को लेकर अभिभावक अनुकरणीय नहीं बन पा रहे हैं। अभिभावकों को स्वयं समझदारी का पता नहीं है तो बच्चों को क्या अनुकरण करायेंगे। इसकी पूर्ति के लिए अभिभावकों

को समझदार होना ही पड़ेगा।

किसका अनुकरण किया जाए? इसका उत्तर है - "मानवीयता पूर्ण आचरण" को प्रमाणित करने वाले व्यक्ति का (समाधान-समृद्धि पूर्वक जीते हुए व्यक्ति का) का अनुकरण किया जाए।

कब तक अनुकरण किया जाए? इसका उत्तर है - पूरा समझने तक, पूरा हृदयंगम होने तक, पूरा प्रमाणित होने तक। ऐसे अनुकरण करने से अध्ययन में मदद मिलती है।

अनुकरण करने का मतलब है - "मजबूरन" कुछ करना। "सही" को हम सहमति पूर्वक स्वीकार के अनुकरण कर सकते हैं। यदि हम "अपराध" के लिए सहमत हो कर उसका अनुकरण कर सकते हैं, तो "सही" के लिए सहमत हो कर अनुकरण करने में क्या तकलीफ है?

प्रश्न: समझने के लिए सुगमता का "आयु" से कोई connection है?

उत्तर: मेरे सर्वेक्षण के अनुसार - जागृति आगे की पीढी (बच्चे) के लिए बहुत सुगम है। युवा पीढी को उसकी तुलना में थोड़ा मुश्किल है। प्रौढ़ पीढी को काफी तकलीफ है। वृद्ध पीढी को महा-तकलीफ है। किसी आयु के बाद हम अपने को समझदार "मान" लेते हैं - इसलिए यह तकलीफ है।

- बाबा श्री नागराज शर्मा के उदबोधन पर आधारित (३ अक्टूबर २००९, हैदराबाद)